# ध्यान-साधना : आधुनिक संदर्भ

डा. नरेन्द्र भानावत

**आज** का युग विज्ञान और तकनीकी प्रगति का युग है, गतिशीलता और जटिलता का युग है, अतः यह प्रश्न सहज उठ सकता है कि ऐसे द्रुतजीवी युग में ध्यान-साधना की क्या सार्थकता और उपयोगिता हो सकती है? ध्यान का बोध हमें कहीं प्रगति की दौड़ में रोक तो नहीं लेगा? हमारी क्रियाशीलता को कुंठित तो नहीं कर देगा? हमारे संस्कारों को जड़ और विचारों को स्थिति-शील तो नहीं बना देगा? ये खतरे ऊपर से ठीक लग सकते हैं पर वस्तुतः ये सतही हैं और ध्यान-साधना से इनका कोई सीधा संबंध नहीं है। वस्तुतः ध्यान साधना निष्क्रियता या जड़ता का बोध नहीं है। यह समता, क्षमता और अखंड शक्ति व शांति का विधायक तत्व है।

एक समय था, जब मुमुक्षुजनों के लिए ध्यान का लक्ष्य निर्वाण प्राप्ति था। वे मुक्ति के लिए ध्यान-साधना में तल्लीन रहते थे। आध्यात्मिक दृष्टि से यह लक्ष्य अब भी बना हुवा है। पर वैज्ञानिक प्रगति और मानसिक बोध के जटिल विकास ने ध्यान साधना की सामाजिक और व्यावहारिक उपयोगिता भी स्पष्ट प्रकट कर दी है। यही कारण है कि आज विदेश में ध्यान भौतिक वैभव से सम्पन्न लोगों का आकर्षण केन्द्र बनता चला जा रहा है।

## ध्यान और चेतना

ध्यान का संबंध चेतना के क्षेत्र से है। मनोवैज्ञानिकों ने चेतना के मुख्यतः तीन प्रकार बतलाये हैं:—

(१) जानना अर्थात् ज्ञान (Cognition)

(२) अनुभव करना अर्थात् अनुभूति (Feeling), और

(३) चेष्टा करना अर्थात् मानसिक सक्रियता (Conation)

ये तीनों मन के विकास में परस्पर सम्बद्ध संलग्न हैं। ध्यान एक प्रकार की मानसिक चेष्टा है। यह मन को किसी वस्तु या संवेदना पर केन्द्रित करने में सक्रिय रहती है। पर आध्यात्मिक पुरुषों ने ध्यान को इससे आगे चित्तवृत्ति के निरोध रूप में स्वीकार कर आत्मस्वरूप में रमण करने की प्रक्रिया बतलाया है।

## ध्यान के प्रकार

ध्यान के कई अंग-उपांग हैं। जैन धर्म में इसका कई प्रकार से वर्गीकरण मिलता है।

ध्यान के मुख्य चार प्रकार हैं—

(१) आर्त ध्यान,

(२) रौद्र ध्यान,

(३) धर्म ध्यान, और

(४) शुक्ल ध्यान।

आर्त का अर्थ है पीड़ा, दुःख, चीत्कार। इस ध्यान में चित्तवृत्ति बाह्य विषयों की ओर उन्मुख रहती है। कभी अप्रिय वस्तु के मिलने पर और कभी प्रिय वस्तु के अलग होने पर आकुलता बनी रहती है।

रौद्र का अर्थ है भयंकर, डरावना। इस ध्यान में हिंसा, झूठ, चोरी, विषयादि सेवन की पूर्ति में प्रवृत्ति रहती है और इनके बाधक तत्वों के प्रति द्वेष के कारण कठोर क्रूर भावना बनी रहती है। आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान दोनों त्याज्य हैं। आर्त ध्यान व्यक्ति को राग में बांधता है और रौद्र ध्यान द्वेष में। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये दोनों ध्यान अनैच्छिक ध्यान की श्रेणी में आते हैं। इनके ध्यान में इच्छा शक्ति को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। ये मानव की पशु-प्रवृत्ति को संतुष्टि देने में ही लीन रहते हैं। इनका साधना की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक दृष्टि से इन्हें 'ध्यान' नहीं कहा जा सकता। ये अशुभ ध्यान हैं।

धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान शुभ ध्यान हैं। इनका चिन्तन राग-द्वेष को कम करने के लिए किया जाता है। ये आभ्यन्तर तप माने गये हैं। धर्म ध्यान के चार प्रकार माने गये हैं—

(१) आज्ञा विचय : आगम सूत्रों में प्रतिपादित तत्वों को ध्येय बनाकर उनका चिन्तन करना।

(२) उपाय विचय : रागद्वेषादि दोषों के क्षय हेतु ध्येय बनाकर उनमें लीन होना।

(३) विपाक विचय : कर्म के विविध फलों को ध्येय बनाकर उनकी निर्जरा के लिए चिन्तन करना।

(४) संस्थान विचय : द्रव्य की विविध पर्यायों को ध्येय बनाकर उनमें एकाग्र होना।

धर्म ध्यान के आगे की अवस्था शुक्ल ध्यान है। यह शुद्ध ध्यान माना गया है। इसके भी चार प्रकार हैं—

(१) पृथक्त्व वितर्क सविचार : इसमें अर्थ, व्यंजन और योग का संक्रमण रूप से-एक पदार्थ को विचार कर उसे छोड़ दूसरे पदार्थ में विचारा जाना विचार किया जाता है।

(२) एकत्व वितर्क सविचार : इसमें एक ही पदार्थ पर अटल रहकर अभेद बुद्धि द्वारा विचार किया जाता है। इसमें संक्रमण का अभाव रहता है।

(३) सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति : इसमें मन-वचन-काय संबंधी स्थूल योगों को सूक्ष्म योग द्वारा रोक दिया जाता है और मात्र श्वास-उच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया ही रह जाती है। इसका पतन नहीं होता। सयोगी केवली को यह ध्यान होता है।

(४) समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति : जब शरीर की श्वास-प्रश्वास क्रिया भी बन्द हो जाती है और आत्म-प्रदेश सर्वथा निष्कम्प हो जाते हैं। इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी प्रकार की मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया नहीं रहती। यही मुक्त दशा की स्थिति है।

शुक्ल ध्यान के आरम्भिक दो ध्यानों में श्रुत ज्ञान का अवलम्ब लेना होता है जबकि अन्तिम दो में श्रुत ज्ञान का आलम्बन भी नहीं रहता। अतः ये दोनों ध्यान अनालम्बन कहलाते हैं।

बौद्ध धर्म में ध्यान पर सर्वाधिक जोर दिया गया है। वहाँ ध्यान (झान) का एक अर्थ चित्तवृत्तियों को जलाना भी किया है। यहां ध्यान के दो मुख्य प्रकार माने गये हैं—

(१) आरंभण उपनिज्झान : जो चित्त के विषयभूत वस्तु (आलम्बन) पर चिन्तन करे।

(२) लक्खण उपनिज्झान : जो ध्येय वस्तु के लक्षणों पर चिन्तन करे।

आरंभण उपनिज्झान के आठ भेद हैं—

१. वितर्क, विचार, प्रीति, सुख व एकाग्रता सहित ध्यान,
२. विचार, प्रीति, सुख व एकाग्रता सहित ध्यान,
३. प्रीति, सुख व एकाग्रता सहित ध्यान,
४. सुख व एकाग्रता सहित ध्यान।

ये चारों ध्यान रूपावचर ध्यान कहलाते हैं। इनमें वृत्तियों को क्रमशः संक्षिप्त कर चित्त को एकाग्र किया जाता है।

५. आकाशान्त्यायतन,
६. विज्ञानान्त्यायतन,
७. अकिंचनायतन,
८. नेवसंज्ञानासंज्ञायतन।

ये चारों अरूपावचर ध्यान कहे जाते हैं। इन आयतनों को जब साधक शनैः शनैः पार कर लेता है तब उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। अंतिम अवस्था को "भवाग्र" कहा गया है।

लक्खण उपनिज्झान के भी तीन भेद किये गये हैं—विपस्सना, भग्ग और फल। विपस्सना में प्रज्ञा, ज्ञान और दर्शन होता है। इसमें विषय-वस्तु के लक्षणों पर विचार किया जाता है। भग्ग में उसका कार्य पूर्ण होता है और फल में उसकी निष्पत्ति होती है। इसी को लोकोत्तर ध्यान कहते हैं जो निर्वाण का विशिष्ट रूप माना गया है।

### ध्यान तत्व का प्रसार

भगवान महावीर और बुद्ध दोनों बड़े ध्यान-योगी थे। ध्यानावस्था में ही दोनों मुक्त हुए। महावीर की ध्यान परम्परा मध्य युग में आकर मन्द पड़ गई। इसके कई सामाजिक और प्राकृतिक कारण रहे हैं। जैन श्रमणों के नगर संपर्क ने भी उसमें बाधा डाली पर बुद्ध की ध्यान परम्परा ने ध्यान सम्प्रदाय का एक स्वतंत्र रूप ही धारण कर लिया और चीन, जापान में उसका व्यापक प्रचार हुआ। वह परम्परा आज भी जीवित है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्ध के बाद हुए २८वें धर्माचार्य[1] बोधिधर्म[2] ने सन् ५२० या ५२६ ई. में चीन जाकर वहाँ ध्यान सम्प्रदाय (चान्-त्सुंग) की स्थापना की। बोधिधर्म की मृत्यु के बाद भी चीन में उनकी परम्परा चलती रही । उनके उत्तराधिकारी इस प्रकार हुए---

१. हुई के (सन् ४०६-५९३ ई.)
२. सेंग-त्सन् (मृत्यु सन् ६०६ ई.)
३. ताओ-हसिन (सन् ५८०-६५१ ई.)
४. हुंग-जैन (सन् ६०१-६७४ ई.)
५. हुई-नेंग् (सन् ६३८-७१३ ई.)

हुई-नेंग् ने अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया पर यह परम्परा वहां चलती रही । इसका चरम विकास तग् (सन् ६१६-९०५ ई.), सुंग (सन् ९६०-१२७८) और यूआन् (सन् १२०६-१३१४ ई.) राजवंशों के शासन-काल में हुआ । १३-१४वीं शती के बाद महायान बौद्ध धर्म का एक अन्य सम्प्रदाय जो अभिताभ की भक्ति और उनके नाम जप पर जोर देता है, अधिक प्रभावशाली हो गया । इसका नाम जोदो-शूया सुखावती सम्प्रदाय है। सम्प्रति चीन-जापान में यह सर्वाधिक प्रभावशील है ।

चीन से यह तत्व जापान गया । येई-साई (सन् ११४१-१२१५ ई.) नामक जापानी भिक्षु ने चीन में जाकर इसका अध्ययन किया और फिर जापान में इसका प्रचार किया। जापान में इस तत्व की तीन प्रधान शाखाएँ हैं--

१. रिजई शाखा : इसमें मूल प्रवर्तक चीनी महात्मा रिजई थे। इस शाखा में येई-साई, दाए-ओ (सन् १२३५-१३०८ ई.), दोतो (सन् १२८२-१३३६ ई.), क्वंजन (सन् १२७७-१३६०ई.) हेकुमिन (सन् १६८५-१७६८ ई.) जैसे विचारक ध्यान योगी हुए ।

२. सोतो शाखा : इसकी स्थापना येई-साइ के बाद उनके शिष्य दोगेन् (सन् १२००-१२५३ ई.) ने की । इसका संबंध व चीनी महात्मा हुई-नेंग के शिष्य चिंग युआन् और उनके शिष्य शिद्-ताउ (सन् ७००-७९० ई.) से रहा है।

३. ओवाकु शाखा : इसकी स्थापना इंजेन (सन् १५९२-१६७३ई.) ने की। मूल रूप में इसके प्रवर्तक चीनी महात्मा हुआई-पो थे जिनका समय ९वीं शती है। और जो हुई-नेंग की शिष्य परम्परा की तीसरी पीढ़ी में थे।

उपर्युक्त विवरण से सूचित होता है कि ध्यान तत्व का बीज भारत से चीन-जापान गया, वहां वह अंकुरित ही नहीं हुआ, पल्लवित, पुष्पित और फलित भी हुआ। वहां के जन-जीवन में (विशेषतः जापान में) यह तत्व घुल मिल गया है। वह केवल अध्यात्म तक सीमित नहीं रहा, उसने पूरे जीवन प्रवाह में अपना ओज और तेज बिखेरा है। येई-साइ की एक पुस्तक "कोजन-गोकोकु-रोन" (ध्यान के प्रचार के रूप में राष्ट्र की सुरक्षा) ने ध्यान को वीरत्व और राष्ट्र सुरक्षा में भी जोड़ दिया है। जापानी सिपाहियों में ध्यानाभ्यास का व्यापक प्रचार है। मनोबल, अनुशासन, दायित्व-बोध और अन्तर्निरीक्षण के लिए वहां यह आवश्यक माना जाता है। जापान ने स्वावलम्बी और स्वाश्रयी बनकर जो प्रगति की है, उसके मूल में ध्यान की यह ऊर्जा अवश्य प्रवाहित है।

मुझे लगता है, पश्चिमी राष्ट्रों में जो ध्यान का आकर्षण बढ़ा है, वह उसी ध्यान तत्व का प्रसार है। चाहे यह प्रेरणा उन्हें सीधी भारत से मिली हो, चाहे चीन-जापान के माध्यम से।

यह इतिहास का कटु सत्य है कि वर्तमान भारतीय जनमानस अपनी परम्परागत निधि को गौरव के साथ आत्मसात् नहीं कर पा रहा है। जब पश्चिमी राष्ट्र का मानस उसे अपना लेता है या उसकी महत्ता-उपयोगिता प्रकट कर देता है तब कहीं जाकर हम उसे अपनाने का प्रयत्न करते हैं और अपने ही घर में "प्रवासी" से लगते हैं। "ध्यान" भी इस संदर्भ में कटा हुआ नहीं है। पश्चिम में जब "हरे राम हरे कृष्ण" की धुन लगी तब कहीं जाकर हमें अपने "ध्यान योग" की गरिमा और आवश्यकता का बोध हुआ।

## ध्यान के प्रति पश्चिमी आकर्षण

यह बोध स्वागत योग्य है क्योंकि इसके द्वारा हमें विलुप्त होती हुई ध्यान-साधना की अन्तः सलिला को फिर से पुनर्जीवित करने का अवसर मिला है। पर जिस माध्यम से यह "बोध" हुआ है, उसके कई खतरे भी हैं। पहला खतरा तो यह है कि हम ध्यान की मूल चेतना को भूलकर कहीं इसे फैशन के रूप में ही न ग्रहण कर लें। दूसरा यह कि इसे केवल जड़ मनोविज्ञान

---

१. बोधिधर्म के पहले जो २७ धर्माचार्य हुए, उनके नाम इस प्रकार हैं--१. महाकाश्यप २. आनन्द ३. शाणवास ४. उपगुप्त ५. धृतक ६. मिच्छक ७. वसुमित्र ८. बुद्धनंदी ९. बुद्धमित्र १०. भिक्षुपार्श्व ११. पुण्ययशस् १२. अश्वघोष १३. भिक्षु कपिमाल १४. नागार्जुन १५. काणदेव १६. आर्य राहुल १७. संघनंदी १८. संघयशस १९. कुमारत २०. जयंत २१. वसुबन्धु २२. मनुर २३. हक्लेनयशस् २४. भिक्षुसिंह २५. वाशसित २६. पुण्यमित्र २७. प्रज्ञातर
--ध्यान सम्प्रदायः डा. भगतसिंह उपाध्याय, पृ. १३-१४

२. ये दक्षिण भारत में कांचीपुरम् के क्षत्रिय (एक अन्य परम्परा के अनुसार ब्राह्मण) राजा सुगन्ध के तृतीय पुत्र थे। इन्होंने अपने गुरु प्रज्ञातर से चालीस वर्ष तक बौद्ध धर्म की शिक्षा प्राप्त की। गुरु की मृत्यु के बाद में उनके आदेश का अनुसरण कर चीन गये। वही पृ. १.



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के धरातल पर ही स्वीकार करके रह जायें और यह वस्तु या विचार के साथ मन के समायोजन (Adjustment) तक ही सीमित न कर दे और तीसरा यह कि हम वैज्ञानिक चिन्ता-धारा को छोड़कर कहीं मध्ययुगीन संस्कारों में फिर न बंध जायें।

ऊपर जिन खतरों की चर्चा की गई है वे निराधार नहीं हैं। उनके पीछे आधार है। 'ध्यान' के संबंध में जो पश्चिम की हवा चली है वह भोग के अतिरेक की प्रतिक्रिया की परिणति है, आत्मा के स्वभाव में रमण करने की सहज वृत्ति नहीं। भौतिक ऐश्वर्य में डूबे पश्चिम के मानव के लिए वह भौतिक यन्त्रणाओं से मुक्ति का साधन है, इन्द्रिय-भोग के अतिरेक की थकान की विश्रान्ति है, मानसिक तनाव और दैनन्दिन जीवन की आपाधापी से बचने का रास्ता है। ध्यान के प्रति उसकी ललक भौतिक पदार्थों की चरम संतृप्ति (संत्रास) का परिणाम है, उसका लक्ष्य प्राच्य मनीषियों की तरह मुक्ति या निर्वाण प्राप्ति नहीं है। उसे वह शारीरिक और मानसिक स्तर तक ही समझ पा रहा है। उसके आगे आत्मिक स्तर तक अभी उसकी पहुँच नहीं है। उसे वह शारीरिक और मानसिक स्तर तक ही समझ पा रहा है। उसके आगे आत्मिक स्तर तक अभी उसकी पहुँच नहीं है। पर हमारे यहाँ ध्यान योग की साधना भोग की प्रतिक्रिया का फल नहीं है। उसका उद्देश्य महान है। वह चरस, गांजा का विकल्प नहीं है और न है कोरा मन का वैलासिक उपकरण। उसके द्वारा आत्मा के स्वभाव को पहचान कर उसमें रमण करने की चाह जागृत की जाती है। चित्तवृत्ति का निरोध किया जाता है—इस प्रकार कि वह जड़ नहीं बने वरन् सूक्ष्म होती हुई शून्य हो जाय। रिक्तता नहीं वरन् अनन्त शक्ति और आनन्द से भर जाय।

## ध्यान शक्ति और शांति का स्रोत

आज की प्रमुख समस्या शांति की खोज की है। शांति आत्मा का स्वभाव है। वह स्थिरता और एकाग्रता का परिणाम है। आज का मानस अस्थिर और चंचल है। शांति की प्राप्ति के लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है पर मन आज चलायमान है। "योग शास्त्र" में मन की चार दशाओं का वर्णन किया गया है—

१. **विक्षिप्त दशाः**—आज विश्व का अधिकांश मन इसी दशा को प्राप्त है। मस्तिष्क के अत्यधिक विकास ने मन को विक्षिप्त बना दिया है। वह लक्ष्यहीन, दिशाहीन होकर इधर-उधर भटक रहा है। वह अत्यन्त चंचल, अस्थिर और निर्बल बन गया है। उसे इन्द्रिय भोगों ने संतृप्ति के बदले दिया है—संत्रास, तनाव और तृष्णा का अलंघ्य क्षेत्र। कुंठा और अत्यधिक निराशा तथा थकान के कारण वह विक्षिप्त हो निरुद्देश्य भटकता है।

२. **यातायात दशाः**—विज्ञान ने यातायात और संचार के साधन इतने तीव्र और द्रुतगामी बना दिये हैं कि इस दशा वाला मन गति तो कर लेता है पर दिशा नहीं जानता। वह कभी भीतर जाता है, कभी बाहर आता है। किसी एक विषय पर टिक कर रह नहीं सकता। वह अवसरवादी और दल-बदलू बन गया है। वह किसी के प्रति वफादार नहीं, प्रतिबद्ध नहीं, आत्मीय नहीं। वह अपने ही लोगों के बीच पराया है। आज के युग की यह सबसे बड़ी दर्दनाक मानव त्रासदी है। इस अस्थिरता और चंचलता के कारण वह सबको नकारता चलता है, किसी का अपना बनकर रह नहीं पाता।

३. **श्लिष्ट दशाः**—इस दशा का मन कहीं स्थित होने का प्रयत्न तो करता है, पर उसकी स्थिरता प्रायः क्षणिक ही होती है। दूसरे यह अपवित्र, अशुभ व बाह्य विषयों में ही स्थिर रहने का प्रयत्न करता है। शास्त्रीय दृष्टि से आर्त एवं रौद्र ध्यान की स्थिति वाला है यह मन। जहां शुभ भावना और पवित्रता नहीं वहां शांति कैसे टिक सकती है। पश्चिम का वैभव सम्पन्न मानस इसी दशा का है।

४. **सुलीनदशाः**—इस दशा का मन शुभ एवं पवित्र भावनाओं में स्थित रहकर एकाग्रता व दृढ़ता प्राप्त करता है।

ध्यान साधना का मुख्य लक्ष्य मन को सुलीन दशा में अवस्थित करना है।

आज का मानस चंचल, अस्थिर, अनुशासन-हीन और उच्छृंखल है। ध्यान उसमें स्थिरता और सन्तुलन की स्थिति पैदा करता है। आज का व्यक्ति गैर जिम्मेदार बनता जा रहा है उसमें कार्य के प्रति लगन, तल्लीनता और उत्साह नहीं है। वह अपने ही कर्त्तव्यों के प्रति उदासीन बन गया है। इसका मुख्य कारण है चित्त की एकाग्रता का अभाव। इस एकाग्रता को लाने के लिए ध्यानाभ्यास आवश्यक है। पर यह ध्यानाभ्यास आसन और प्राणायाम तक ही सीमित न रह जाय। इसे यम-नियमादि से तेजस्वी बनाना होगा। चित्तवृत्ति को पवित्र और संयमित करना होगा, मन की गति को मोड़ना होगा। उसे स्वस्थता प्रदान करना होगा।

ध्यान की भूमिका तैयार करने के लिए उचित आहार-विहार, सत्संग और स्थान की अनुकूलता पर भी दृष्टि केन्द्रित करनी होगी अन्यथा ध्यान की ओट में हम छले जायेंगे और हमारा प्रयत्न आत्म-प्रवंचना बनकर रह जायेगा।

आज की प्रमुख समस्या तीव्र और गतिशील जीवन में भी स्थिर और दृढ़ रहने की है। ध्यान साधना इसके लिए भूमि तैयार करती है। वह मानसिक सक्रियता को जड़ नहीं बनाती, चेतना के विभिन्न स्तरों पर उसे विकसित करती चलती है। आन्तरिक ऊर्जा को जागरुक बनाती चलती है। उससे आत्मशक्ति की बेटरी चार्ज होती रहती है, वह कमजोर नहीं होती। यह ध्याता पर निर्भर है कि वह उस शक्ति का उपयोग किस दिशा में करता है। यहां के मनीषी उसका उपयोग आत्म स्वरूप को पहचानने में करते रहे, जब आत्म शक्ति विकसित और जागृत हो जाती है, हम उसकी तुलना में विघ्नों पर विजय प्राप्त करते चलते हैं।

(शेष पृष्ठ ९२ पर)



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org